

समाज से निर्मूल करने के उद्देश्य से नरेंद्र दाभोलकर जब 'अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति' का गठन कर इस दिशा में सार्थक प्रयास कर रहे होते हैं, तब धर्म पर एकाधिकार समझने वालों के लिए यह क्रान्तिकारी विचार नागवार हो उठता है। जितेन्द्र भाटिया लिखते हैं, "खौफनाक यह है कि जिस समाज में हम जी रहे हैं, वहाँ दिन-दहाड़े एक या दो व्यक्ति आराम से मोटरसाइकिल पर आते हैं; प्रतिशोध की आग में एक क्रान्तिकारी विचारक (नरेंद्र दाभोलकर) के माथे में दनादन गोलियाँ दागकर आराम से आगे निकल जाते हैं और हमारी व्यवस्था उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाती!"⁷ धार्मिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले लेखकों की बात नागवार लगने पर उनकी आवाज़ दबाने के लिए लेखकों की हत्या कर देना जब एक 'ट्रेंड' बन जाए, तब उससे भयानक स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती है। आजाद भारत में मुक्तिबोध के समय तक वैज्ञानिक चेतना की अभिव्यक्ति अपराध घोषित किये जा रहे थे। लेखक गुमनामी के माहौल में जीते थे। लेकिन हत्या नहीं होती थी। अब धर्म के तथाकथित ठेकेदारों को इसकी वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करने वालों की एकमात्र सजा 'हत्या' ही तार्किक लगने लगी है। क्योंकि फिर दूसरा कोई यदि धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या करता है तब "वे फिर से उन्हीं मोटरसाइकिलों पर सवार होते हैं, उन्हीं खतरनाक पिस्तौलों को अपने हाथ में उठाते हैं और विचारों के किसी और जनक को फिर एक बार उसी अंदाज़ में गोलियों के घाट उतार देते हैं। उस विचार का नाम इस बार कॉमरेड गोविन्द पानसरे होता है लेकिन दृश्य वही होता है- वही मूक दर्शक, वही पुलिसवाले, वही झूठी सहानुभूति जताने वाली मजबूर व्यवस्था, वही मीडिया के सामने अपराधी के यथाशीघ्र पकड़े जाने के थोथे वादे और विचार की हत्या के साथ उगता वही भयावह अहसास कि हत्यारों की मानसिकता अब भी किसी खून के फैलते धब्बे की तरह उन्हीं तमाम लोगों के बीच लगातार पनपकर फल-फूल रही है।"⁸ धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र अब कहने भर को रह गया है। हालत इससे ठीक

विपरीत है। बाबरी मस्जिद से लेकर शुरू हुआ हिन्दुत्ववादी एजेंडा वोट बैंक की राजनीति के साथ मिलकर भयानक रूप ले लिया है। वोट बैंक की खातिर पन्थनिरपेक्षता को हाशिए में रखकर हिन्दुओं को मुसलमानों के साथ लड़ा दिया गया। छह दिसंबर 1992 को बाबरी ढाँचा विध्वंस के बाद छह/सात दिसंबर की रात में ही कारसेवकों ने मलवे पर चबूतरा निर्माण कर रामलला को स्थापित कर दिया था; जो आज तक पुराने टूटे हुए बाँस, बल्ली और तिरपाल के सहारे टिका हुआ है। मजे की बात यह कि राम जन्मभूमि के नाम पर विवाद पैदा करने वाले भाजपाईयों के वारे-न्यारे हो गए। अयोध्या के विधायक तेजनारायण पांडेय पवन का कहना है कि 'भारतीय जनता पार्टी अयोध्या के नाम पर सत्ता पर काबिज होती है। अयोध्या के विकास से इनका कोई वास्ता नहीं दिखता। रेलवे स्टेशन और धार्मिक स्थलों की उपेक्षा भाजपा की पहचान बनती दिख रही है।'⁹ (एक को टाट दूसरे के ठाठ : त्रियुगनारायण तिवारी) साग-भाजी की तरह केवल पानी देकर उसे बारंबार तोड़कर हिन्दुत्व के मुद्दे से जब मन चाहा तब वोट बैंक की राजनीति की जा रही है। कुँवर नारायण शुरू से ही इस हिन्दुत्व के एजेंडे को लेकर आशंकित रहे हैं:

“इससे बड़ा क्या हो सकता है
हमारा दुर्भाग्य
एक विवादित स्थल में सिमटकर
रह गया तुम्हारा साम्राज्य

अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं
योद्धाओं की लंका है,
'मानस' तुम्हारा 'चरित' नहीं
चुनाव का डंका है!
हे राम, कहाँ यह समय
कहाँ तुम्हारा त्रेता युग,
कहाँ तुम मर्यादा पुरुषोत्तम
और कहाँ यह नेता-युग!

सविनय निवेदन है प्रभु कि लौट जाओ
किसी पुराण-किसी धर्मग्रन्थ में
सकुशल सपत्नीक...

अबके जंगल वो जंगल नहीं

जिनमें घूमा करते थे वाल्मीक !”¹⁰ (अयोध्या,
1992)

शास्त्रों में वर्णित ‘धर्म’ लोक में इतनी जड़ें जमा चुकी है कि उसे व्यापक जन समाज की स्वीकृति भी मिल गई है, यानी तुलसीदास के अनुसार ‘तथै कहिए लोकाचार, वेद कतेव कथै व्यवहार’। जब शास्त्रमत ही लोकमत का हिस्सा बन जाए तब लोक उस मत की बुराई सहन नहीं कर सकता। भले ही उसमें भारी प्रक्षेप शामिल हो जायें, वह उसी तरह बदस्तूर चलता रहता है। साहित्यकार अथवा बुद्धिजीवियों का यह दायित्व होता है कि समय-समय पर इसका मूल्यांकन करते हुए उसमें निहित प्रक्षेपों को दूर करे, भ्रम अथवा बिगूचन का निराकरण करे। लेकिन तार्किक चेतना की अभिव्यक्ति पर स्वतंत्र भारत में मुक्तिबोध से शुरू हुआ लगाम लगातार भयावह होता चला जा रहा है। शास्त्र को रचने वाले साहित्यकार ही आज जबकि शास्त्र को चुनौती देते हुए उसे वर्तमान संदर्भों में व्याख्यायित कर अपभ्रंशों को दूर करने की कोशिश कर रहा होता है तब शास्त्रमत को लोकमत बताने वाले रूढ़िवादी अपने साथ वोट बैंक अथवा जाति, धर्म, संप्रदाय और संस्कृति के नाम पर अपना वर्चस्व बनाने की खातिर समाज में पिछड़े और गरीब तबके के लोगों में विचार-शून्य की स्थितियाँ पैदा कर एक व्यापक जन-समाज को साहित्यकार के विरुद्ध भड़का देते हैं। विचार-शून्य माहौल में व्यापक जन-समाज को भीड़-तंत्र में परिवर्तित होते देर नहीं लगता। नरेन्द्र दाभोलकर, कॉमरेड गोविन्द पानसरे और कर्नाटक के वयोवृद्ध विद्वान एम एम कलबुर्गी जैसे विचारवान साहित्यकारों की सिलसिलेवार हत्या के बाद बजरंग दल के नेता भुवित शेटी द्वारा इन हत्याओं पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहना कि, “कलबुर्गी तो गए, अब अगला नंबर के एस

भगवान (कर्नाटक के एक अन्य विद्वान) का है !”¹¹ तब ताज्जुब नहीं होता। इस संदर्भ में यदि संविधान में वर्णित अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से जुड़े अनुच्छेद-15 की बात करें तब यह अनुच्छेद भी इन रूढ़िवादी मानसिकता के आगे बौना लगने लगता है। लगता है भारत के विकास की नाव को दुरुस्त करने वाली संविधान पेटिका में रखे हुए पेंचकस और पाने (रिंच) में से पन्द्रह नंबर का पाना (रिंच) मानो जंग लगकर खराब हो चुका हो।

भारत में विज्ञान की बदौलत विकास का जो स्वप्न देखा गया था उसमें धर्म और सांप्रदायिकता अपनी जड़ें जमा चुकी हैं। पत्रिका ‘फारवर्ड प्रेस’ के अनुसार, “भारत में विज्ञान ने जनेऊ पहन लिया और चुटिया रख ली है।”¹² आज फेसबुक, ट्वीटर और व्हाट्स-एप इत्यादि अन्य इंटरनेट एप्लीकेशन धर्म और जातिगत विभेद पैदा करने का सशक्त माध्यम बन चुका है। टी.वी. चैनलों एवं अखबारों में नज़र सुरक्षा कवच, हनुमान सिद्धि यंत्र अथवा अल्लाह की बरकत वाली ताबीज बिकना सामान्य बातें बन चुकी हैं। धर्म के स्थान पर विज्ञान के सहारे हम जिस आधुनिकता के प्रवेश की बात करते हैं दरअसल उस विज्ञान में अब पुनः धर्म ने सेंध लगा लिया है। अब अपने-अपने धर्म के वर्चस्व की खातिर जगह-जगह साम्प्रदायिक तनाव फैलता जा रहा है। देश की राजधानी दिल्ली से लगे हुए दादरी गाँव की घटना इसका ताजातरीन उदाहरण है। वरिष्ठ पत्रकार और राजनीतिक विश्लेषक गिरिजाशंकर दादरी कांड के संदर्भ में भारत की कानून व्यवस्था की ओर प्रश्नांकित करते हुए लिखते हैं कि, “कानून व्यवस्था का प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि न्यायपूर्ण व्यवस्था कायम करने का यह आधार है। सामान्यजन को सुरक्षा प्रदान करना न्याय की पहली जरूरत है और यदि तंत्र असफल होता है तो छोटे-छोटे दादरी हर दिन होते रहेंगे और समूची व्यवस्था निहित स्वार्थों के हाथों की कठपुतली हो जाएगी।”¹³ यदि कानून व्यवस्था मुट्टी भर लोगों के हाथों की कठपुतली बन जाए तो कानून व्यवस्था पर सवाल उठना लाजिमी हो जाता है।

जब मुक्तिबोध के पुस्तकों की प्रतियाँ जला दी गईं, तब छिटपुट पत्रिकाओं में विरोध के सिवा और कुछ नहीं किया गया। अब जबकि पी मुरुगन के पुस्तक की प्रतियाँ जला दी गईं, साहित्यकारों के अकादम्य तार्किक बातों पर धार्मिक संकीर्णता के कारण सिलसिलेवार ढंग से बौद्धिक विचारों का सामना न कर पाने की स्थिति में हत्या किए जा रहे हैं तब ऐसे डरावने और विचलित करने वाले माहौल में साहित्यकारों ने पुरस्कार लौटाकर खामोशी तोड़ने की कोशिश की। 'भय भी शक्ति देता है' कहते हुए पुरस्कार लौटाने की पहल करने वाले उदय प्रकाश कहते हैं- "एक समय था जब हमारे लेखकों का सम्मान होता था, उनकी एक गरिमा थी। लेकिन आज अगर आप राजनीतिक, सांस्कृतिक या सामाजिक मसलों पर तार्किक आलोचना करते हैं, तो लोग उसे बर्दाश्त नहीं करते। वे हिंसात्मक होकर आपको प्रताड़ित करते हैं। हर चीज का सांप्रदायिकरण हो रहा है, कला जगत भी इससे अछूता नहीं है।... अपराधियों को सुरक्षा देने वाले देश में लेखकों की हालत यह है कि कोई भी आकर उन्हें मार सकता है। लेखक अकेलेपन में जी रहा है।"¹⁴

पुरस्कार लौटाकर खामोशी तोड़ने की कोशिश करने वालों पर साहित्य अकादमी के अध्यक्ष विश्वनाथ प्रसाद तिवारी द्वारा प्रतिक्रिया मिलना स्वाभाविक है। उनका कथन है- "इस तरह के आरोप लगातार लगाए जा रहे हैं कि साहित्य अकादमी लेखकों के साथ नहीं है या उनकी हत्याओं पर मौन है। इसमें कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि मैं अपने लेखकों के साथ हूँ। उनकी लेखकीय स्वतंत्रता का समर्थन करता हूँ। उनपर हो रहे हमलों की निंदा करता हूँ, लेकिन फिर भी कहूंगा कि इन सबके लिए पुरस्कार लौटाने को सही नहीं मानता।... जहाँ तक सरकार को अकादमी की ओर से कोई संदेश देने का सवाल है तो हम सरकार को कोई संदेश नहीं दे सकते। हम गलत चीजों की निंदा कर सकते हैं, वह मैंने की।"¹⁵

उदय प्रकाश बताते हैं, "जब प्रो. कलबुर्गी की हत्या हुई, उस समय मैं अपने गाँव में था। पाँच दिन से बिजली

नहीं थी। चार सितंबर को मैं गाँव के ढाबे पर गया, वहाँ पर अपना मोबाईल चार्ज किया और फेसबुक खोला तो पता चला कि कलबुर्गी की हत्या कर दी गई है। यह घटना बेहद डरावनी और विचलित करने वाली थी। हत्या हुए पाँच दिन बीत गया था, लेकिन उन्हें पुरस्कृत करने वाली साहित्य अकादमी ने भी तब तक कोई कदम नहीं उठाया था। आप लेखक को सम्मानित तो करते हैं, लेकिन वह निहायत ही अकेलेपन में जीता है। उसकी मौत पर भी उसके साथ कोई नहीं है। उस वक्त के दुख और भय की वजह से मैंने वहीं से यह घोषणा की कि मैं यह पुरस्कार लौटा रहा हूँ।"¹⁶ आज जबकि लेखकीय स्वतंत्रता पर ध्यानाकर्षण हेतु बौद्धिक वर्ग का एक बहुत बड़ा खेमा सरकार का ध्यान इस दिशा में दिलाने हेतु पुरस्कार लौटाकर अपना विरोध प्रदर्शित कर रहे हैं। तब फेसबुक, इंटरनेट, पत्र-पत्रिकाओं और अखबारों पर इसे राजनीतिकरण का हिस्सा मानकर तमाम तरह की फब्तियाँ कसी जा रही है। 'अब क्यों तब क्यों नहीं?' जैसे जुमलों का प्रयोग कर इसे सारहीन करार दिया जा रहा है। जबकि साहित्यकारों के पास अपनी लेखनी के सिवाय यदि कोई और चीज है तो वह है- 'अपना सम्मान'। अपना पूरा सम्मान गँवा देने के बावजूद उन्हें केवल दुत्कार ही मिल रहा है। अगर साहित्यकार पुरस्कार लौटाकर केवल राजनीतिकरण भर कर रहे हैं तो इसका प्रतिफल क्या मिल रहा है उन्हें- 'सिवाय दुत्कार के।' आज साहित्यकारों की हालात के संदर्भ में गालिब का यह शेर प्रासंगिक लगता है-

"जला है जिस्म जहाँ, दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो जो अब राख, जुस्तजू क्या है।"

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. पाण्डेय, मैनेजर, आलोचना की सामाजिकता, 2012, वाणी प्रकाशन, दरियागंज नयी दिल्ली, पृ. 150
2. वही, पृ. 153
3. वही, पृ. 150
4. वही, पृ. 151

5. मुक्तिबोध, गजानन माधव, चाँद का मुँह टेढ़ा है, 2015, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड नयी दिल्ली, पृ. 291
6. ज्ञानरंजन, पहल, अंक 100, जून-जुलाई 2015, जबलपुर, पृ. 182
7. वही, पृ. 176
8. वही, पृ. 177
9. कुमार, अंबरीश, शुक्रवार, वर्ष 8, अंक 11, 1 से 15 जून 2015, नयी दिल्ली, पृ. 33
10. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (सम्पा.), प्रतिनिधि कविताएँ: कुँवर नारायण, 2012, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 154-155
11. ज्ञानरंजन, पहल, अंक 101, अक्टूबर 2015, जबलपुर, पृ. 116

12. कोस्का, आयवन, फारवर्ड प्रेस, वर्ष VII, अंक 10, द्विभाषी, अक्टूबर 2015, नई दिल्ली, पृ. 25
13. सैम्यूएल, मैथ्यू, तहलका, वर्ष 7, अंक 20; 16-31 अक्टूबर 2015, दिल्ली, पृ. 47
14. वही, पृ. 53
15. वही, पृ. 53
16. वही, पृ. 52

संपर्क : शोध-अध्येता, हिंदी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (मध्यप्रदेश) 470003, मोबाईल : 08085913848, E-mail : akhilesh.src@gmail.com